

दिनकर: 'गीत-अगीत': नये भावबोध की रचना

'गीत-अगीत' सन् 37 की रचना है और 'बालिका से बधू' सन् 38 की-दोनों कई मायने में एक-दूसरे की पूरक हैं, किंतु विधा या स्थूल रूप की दृष्टि से नहीं- इस दृष्टि से जहाँ पहली रचना गीत है वहाँ दूसरी प्रगीत मुक्तक। ये दोनों ही रचनाएँ संरचना की दृष्टि से 'कविता की पुकार' उर्फ 'वन फूलों की ओर' की अपेक्षा कसी हुई और कॉम्पैक्ट है। शायद इस कारण कि 'गीत-अगीत' एक नये किस्म-पारंपरिक केंद्र को कई उपकेंद्रों से decentre करता हुआ गीत है और 'बालिका से बधू' एक कथात्मक प्रगीत जिसमें अगर थोड़ी बहक है ती उसकी बजह भी रचना में अंतर्निहित है। हिंदी में intertextual (अंतर्पाठीय) अध्ययन न के बराबर हुआ है किंतु दिनकर ऐसे पाठ की खातिर पहली take off ('कविता की पुकार') से ही गंभीर चुनौती दरपेश किए जा रहे हैं। इस दृष्टि से 'गीत-अगीत' को पहले 'कविता की पुकार' के साथ और तब 'गीत-अगीत' के साथ रखकर पढ़ना चाहिए। इसी तरह 'बालिका से बधू' कालीदास की शकुन्तला की बिदाई के साथ पढ़े बगैर खुल ही नहीं सकती, वैसे इन दोनों का कनेक्शन, भले ही गौण रूप से, निराला की 'सरोज स्मृति' से भी है। इसके अलावा कुछ गौण कवियों के लटके भी जहाँ-तहाँ लासा लगा जाते हैं जिनको भी कभी-कभार याद कर लेने से और कुछ नहीं तो रचना के प्रभाव की विरलता-गहता को समझने थोड़ी सहायता तो मिलती ही है। वैसे दिनकर ने कई मौकों पर कहा है कि उनपर आरंभिक से ही रविन्द्र नाथ ठाकुर और इकबाल का गहन प्रभाव रहा है¹। यहाँ इकबाल का तो नहीं किंतु रवि ठाकुर के, भले ही प्रकारांतर या सुदूर से भी पड़ते प्रभावों का अध्ययन भावबोध के काव्यानुवाद की प्रक्रिया को समझने में सहायक हो सकती है। कालीदास और रवि ठाकुर भी तो एक ही स्कूल के कवि हैं। दोनों रंग-गंध-स्पर्श के अनुभवों के reduction और संयोजन से प्रकृति और मानवीय उपस्थिति के अंतर्लयन को रचते-न-रचते एक सम्मोहक दुनिया रच जाते हैं। एक ऐसी दुनिया जिसकी ताना-भरनी में अनुभव के सामान्य और परिचित तत्व न के बराबर रह जाते हैं और इसीलिए यह एक विलक्षण दुनिया होती है। कालीदास अपने नाटकों के संवाद को भी ऐसे तत्वों से संपूरित किए रहते हैं। हालांकि इससे प्रवाह बाधित नहीं होता बल्कि एक तरह की उनमें दीप्ति आ जाती है। सतेज करने वाली। कारण कि यह सब वर्णन या संवाद की बेहद कसी हुई ताना-भरनी के बीच प्रवाह का हिस्सा बन कर घटित होता है। निराला की गौण रचनाएँ इस स्कूल हैं मगर जिन्हें क्लासिक माना जाता है जैसे कि 'राम की शक्ति पूजा', 'सरोज स्मृति', 'तोड़ती पत्थर' व 'तुलसीदास' आदि वह सब-की-सब वे तुलसीदास के स्कूल की है। ज्यादातर अनवकृत अनुभवों का आलेख। दिनकर की सर्वोत्तम रचनाएँ इन स्कूलों के बीच की चीज हैं। वे कभी इधर तो कभी उधर टिल्ट तो करती हैं मगर हैं वे बीच की ही चीज। सवाल है कि उनकी सर्वोत्तम रचनाएँ कौन सी हैं। वे ही जो उनके लिए स्वाभाविक हैं यानी कि अनुभव-संपदा और जीवन-दर्शन के करीब की चीज। कवि के सच के करीब की। दिनकर ने रवि ठाकुर की सुप्रसिद्ध रचना 'निर्झरेर स्वप्नभंग' के अलावा उनकी कई महत्वपूर्ण रचनाओं का रचनात्मक हिंदी अनुवाद प्रस्तुत किया है। वैसे दिनकर काव्य में झरने कम ही हैं, नदी की आमद ज्यादा है बल्कि ज्यादातर मामले में जो झरने हैं वही नदी बन जाते हैं। दिनकर के यहाँ प्रकृति और मानवीकृत प्रकृति परस्पर घुल-मिल जाती हैं। जहाँ मिलने की संभावना नहीं वहाँ कोई चरित अपने कर्म से इन्हें मिला भी देता है। यह संयोग नहीं है कि सच और सुन्दर कवि के अनुभव के जिस बिंदु पर एकमेक होते हैं वह कृषि कार्य का अनुभव है। दिनकर शायद आधुनिक दुनिया का पहला कवि है जिसने झरने की आत्मपूर्ण सम्मोहक दुनिया के साथ किसी प्रेमी, प्रेमी युगल या फलदायी दर्शन को जोड़ने के बदले एक किसान को अपने फावड़े के साथ इस कदर भिड़ा दिया है कि रचना क्षण का नायकत्व झरने से छिन जाता है²। इस तरह किसान को-ओर सामान्यतया साधारण या साधारणत्व को जीवन के

प्रासंगिक संदर्भों में पहल कदमी देना और पहल कदमी के माध्यम से इन्हें नायकत्व की ओर या करीब ले जाना, दिनकर के सच यानी कि भावबोध और सौंदर्यबोध के परस्पर उतरने या व्याप्त होने का सच भी है यानी कि रचनात्मक सच। इस सच का साक्षात्कार सामान्यतया औपनिवेशिक भारत में लिखी गई दिनकर के किसी भी रचना में किया जा सकता है। इस आधार भूमि से छूटते ही दिनकर एक गौण कवि बन जाते हैं – युग का चारण और वैताली कहलाने के बावजूद³। दिनकर की एक कविता है नयी दिल्ली। दिल्ली के माध्यम से इसमें देश की दुरावस्था बोलती है किंतु निराला की 'दिल्ली' की तरह रचना क्षण का नायक 'अंधेरा' नहीं अंधेरे से निकल सकने वाली संभावित तलवार है। आज के शेरशाह की तलवार⁴। शेरशाह साधारणत्व का भी प्रतिनिधि है। 'हिमालय' में यह आधार भूमि मौन यती और व्रती के चक्कर में छूट जाती है। फलस्वरूप रचना लोकप्रिय तो बन पड़ती है किंतु पुनरुत्थानवाद के सृजित बल को कतई भी संभाल नहीं पाती। यहाँ दरपेश चुनौती का हल व्यक्ति से, चाहे वह कितना भी प्रभावशाली क्यों न हो, पाने की सदाशयता व्यंजित है। जाहिर है यहां मुख्य ड्राइविंग फोर्स व्यक्ति विशेष या व्यक्तित्व विशेष के प्रति विश्वास प्रदर्शन और समर्पण है- आखिरकार 'युग शंख-ध्वनि' बजाने वाला जनारण्य में खुद लिड क्यों नहीं लेता। बहरहाल यह ध्वनि रचना को सामयिक तो बनाती है किंतु प्रासंगिक नहीं। सच तो यह है कि 'दिल्ली' पर भी पुनरुत्थानवाद का दबाव कम नहीं है किंतु वहाँ उसे जीवनानुभवों के बल पर काउंटर करने वाली शक्ति सृजित कर ली गई है। यह अलग बात है कि रचना अपनी संरचना के भीतर कई तरह की स्फीतियों और loose spaces का शिकार हो अंततः भीतर-ही-भीतर गिरने लगती है। सो, यह कवि की महत्वपूर्ण रचनाओं में शुमार नहीं की जा सकती। इस पर किशोर लेखन का सीधा प्रभाव है। यह सब सही है किंतु यह भी सही है कि दिनकर अपनी स्वाभाविक जमीन को रचना प्रवाह में शामिल करने की कला यहां आजमाते और सीखते हैं।

'रसवन्ती' में संग्रहित 'गीत-अगीत', जैसा कि पहले ही रेखांकित किया जा चुका है, सन् 37 की रचना है। दिनकर ने गीत कम ही लिखे और जो लिखे हैं वे ध्यान वैसे नहीं खींचते जैसे कि गीतों को खींचना चाहिए। गीत या कह लें कि गीति किसी भी संस्कृति के आदम कलारूप है बल्कि गीति के बदले नृत्य-गीति पद का इस्तेमाल करें तो वह यथार्थ के करीब ले जाता है। मध्य-काल की जीवन परिस्थिति ने और खासकर श्रम परिस्थिति, श्रम विभाजन और उत्पादन संबंध ने नृत्य और गीत को सामाजिक स्तर पर बिलग कर दिया था। उसी से जुड़े वर्ण व्यवस्था की भी इसमें भूमिका थी। बहरहाल ये विलग तो हुए किंतु इनमें एक दूसरे के प्रति आकांक्षा फिर भी भरी-पड़ी रही बल्कि वह कई मायने में बढ़ गयी। नृत्य-गीति के विलगाव के बाद गीत किसी तौर से अपनी यूनिवर्सल उपस्थिति बनाए रख सकी किंतु नृत्य कोठे या दरबार तक सीमित रह गया। थोड़े से गीति नृत्य मागधी चौहट, भोजपुरिया नौटंकी या मैथिली सामा चकेवा में बचे रहे किंतु इनका जोर भी गीतों की ओर रहा। इस परिस्थिति में नृत्य बैठे नहीं रहे। उन्होंने कई रूपों में विद्रोह किया। होली गीत या चौहट के साथ हुड़दंग और रंग-बदरंग का वातावरण बना रहता है वह नृत्य का एक तरह का विद्रोह ही है। ऐसे विद्रोह शादी-विवाह के अवसर पर भी देखे जाते हैं- कभी स्त्रियों द्वारा तो कभी पुरुषों द्वारा। मार्के की बात यह कि तब पृष्ठभूमि में एक से एक गीत चलते रहते हैं। इन आकांक्षी गीतों और इनके वातावरण में चलते 'विद्रोह के माध्यम से एक खास तरह के गीति-नाट्य का जन्म होता है जो प्राक-आधुनिक विधा है। वैसे आधुनिक समय ने नृत्य-गीति के विलगाव को निगेट करके इनकी एकता को सीनेमा से लेकर डीजे तक स्थापित कर दिया है। किंतु 'गीत-अगीत' विलगाव की परिस्थिति की ही उपज है, इसलिए एक खास तरह से गीति-नाट्य है। इस विलगाव ने एक स्तर बल्कि कई स्तरों पर स्त्री-पुरुष विलगाव का रूप धारण किया है। यहाँ तक कि पति-पत्नी साहचर्य और सहवास को भी इसने क्रूरतापूर्ण नियंत्रित किया है। 'गीत-अगीत' और 'बालिका से बधू' के भीतर के जीवन संदर्भों पर इस नियंत्रण की छायाएं और उनकी प्रतिकृतियां देखी जा सकती हैं। किंतु

आधुनिक शिक्षा ने और उससे भी ज्यादा शिक्षालयों के प्रसार ने इसे एक स्तर से तो राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के विभिन्न रूपों ने दूसरे स्तर से इसे तोड़ना शुरू किया। दिनकर जिस भूमि और वातावरण से जुड़े थे उसमें किसान आंदोलन और स्वामी सहजानंद सरस्वती की अपनी खास भूमिका थी जिसने रैयतों के भीतर उत्साह और एक खास किस्म का आत्मविश्वास भर दिया था। इस तरह शोषणपूर्ण आर्थिक सामाजिक संबंधों के बीच भी आम जनगण में उत्सव के कई रूप निकल आए थे। व्यक्तिगत स्तर पर यह रागोत्सव का रूप ले रहा था। युवक-युवतियां रागानुराग संबंधों में बंधे जाते थे। इनका स्वरूप मूक भी था, प्रगल्भ भी। बीच के कई और शेड्स भी थे। ऐसी सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थिति में ही-‘गीत-अगीत कौन सुन्दर है’- यह प्रश्न मौजू हो सकता था। यह प्रश्न यहाँ दो तरीके से उठाया गया है। एक, चेतन प्रकृति के रूपकीकरण द्वारा और दूसरा प्राणी जगत के मानवीकरण द्वारा। एक तीसरा तरीका भी अख्तियार किया गया है जिसमें प्रेमी युगल को वाहन बनाया गया है। चेतन प्रकृति के रूपकीकरण का आधुनिक अग्रदूत रविन्द्रनाथ ठाकुर हैं जिसका बहुविध प्रभाव हिंदी की छायावादी कविता और विशेषकर निराला की कविता पर देखा जा सकता है। वैसे छायावाद के क्रिटिक कवि दिनकर ने खुद अपने काव्य पर रविन्द्र-प्रभाव को स्वीकार किया है। खुद ‘गीत-अगीत’ का पहला खंड इस प्रभाव का साक्ष्य है। मुझे लगता है कि निर्झर से नदी तक या सागर की पुकार पर सागर तक की रोमैंटिक यात्रा का उपक्रम रचने वाली हिंदी की ज्यादातर कविताओं पर रविन्द्रनाथ की या तो ‘निर्झरेर स्वप्नभंग’ का प्रभाव है या फिर ‘चंचला’ का। निराला की ‘धारा’ और ‘तरंगों के प्रति’ सीधे ‘निर्झरेर स्वप्नभंग’-प्रभाव की कविता है। उनकी ‘मुक्ति’ भी इसकी प्रभाव-छाया में है। आरसी प्रसाद सिंह की ‘जीवन का झरना’ उससे प्रभावित हो-न-हो नेपाली की ‘सरिता’ जो एक श्रमसाध्य कविता है और जिसकी ज्यादातर ऊर्जा जननी के अंतस्थल से चलकर वसुधा के अंतस्थल तक पहुंचने में खर्च होती है- ठंडे जल को ठंडे जल से धोने में, अवश्य ही उसकी प्रभाव-छाया में है। जहाँ तक दिनकर काव्य का सवाल है, ‘गीत-अगीत’ पर जहाँ ‘निर्झरेर स्वप्नभंग’ का प्रभाव है वहाँ ‘पानी की चाल’ पर ‘चंचला’ का। हालांकि इस पर स्वयं कवि ने राबर्ट सदी और अकबर इलाहाबादी के प्रभावों को स्वीकार किया है।

ऊपर ‘गीत-अगीत’ के बारे में कहा गया कि वह ‘खास तरह से गीति-नाट्य’ है। इसी तरह निराला का सुप्रसिद्ध गीत- ‘मौन रही हार’ या प्रसाद का लोकप्रिय गीत ‘बीती विभावरी जाग री’ भी खास तरह से गीति-नाट्य है। इनमें गीति के माध्यम से एक नाटक रूपाकार लेता है। जाहिर है यहाँ वर्णन में कार्य के आत्मगत इम्पैक्ट से ज्यादा उसके वस्तुगत स्वरूप को पकड़ने की कोशिश देखी जाती है। यह कोशिश इनके भीतर चरित और संवाद पैदा करती है यानी कि कार्यानुकरण की प्रवृत्ति। ये प्रकृत्या descriptive होते हैं। इस वर्णन के भीतर ही discourse और dialouge चलते रहते हैं। इसके विपरीत गीति प्रधानतया ego-centric होते हैं। बहरहाल ‘गीत-अगीत’ खास तरह से गीति-नाट्य है तो इसलिए है कि सर्वप्रथम इसमें संबंधित जीवन संदर्भ का नाटकीय उपस्थापन देखा जाता है। गीति के फार्म में संबंधित संदर्भ का नाटकीय उपस्थापन के चलते यह गीति न रहकर एक खास तरह की गीति या कह लें कि गीति-नाट्य बन जाता है। पूरी रचना तीन खंडों में विभक्त है और तीनों ही खंड अपने खास नाटक लिए हुए आते हैं। यह अलग बात है कि खंड एक का नाटक छायावादी और रविन्द्र प्रभावों के चलते चेतन प्रकृति का नाटकीयन है। यानी कि सर्वेश्वरवादी (panthistic) नाट्य उपस्थापन। यहाँ विरहिणी तटिनी यानी कि निर्झरी वेगवती होकर बहती जा रही है। जाहिर है उसे प्रिय से मिलना है। यह एक चित्र है जिसमें विरहिणी मुखर है। वह सिर्फ गा ही नहीं रही, जा भी रही है। इस तरह एक नाटकीय दृश्य तैयार होता है जिसमें तट का गुलाब अपने अनुचिंतन से और भी रंग भरता है। गुलाब स्वरविहिन है इसलिए अपना हाले-दिल किसी को (जग को) सुना नहीं सकता- यहाँ तक नाटक कायम है- अपने दृश्य-विस्तार के साथ - इस दृश्य-विस्तार से जो स्थिति-विपर्यय पैदा होता है वह दृश्य

को और भी कॉम्पैक्ट और गहन बनाता है। कि अचानक स्थिति-विपर्यय के प्रश्नाकूल प्रस्तुतीकरण द्वारा नाटक को ब्रेक देकर एक ऐसा भाव-आयाम सामने आता है जो पूर्व दृश्य को तो समेटता ही समेटता है, प्रकृत्या सब्जेक्टिव भी है। आत्मगत तत्त्वों के नियंत्रण कायम हो जाने के चलते गीति-नाट्य अब गीति के करीब की चीज हो जाता है। | वैसे आरंभिक वर्णन के द्वारा नाटक का प्रस्तुतीकरण भी अपने आप में नाटक या गीति-नाट्य नहीं उसका आभास ही होता है। होता यह है कि जब वर्णन में नाटकीय दृश्य के उभार के साथ आत्मगत तत्व अनुपस्थित रहते हैं तो वर्णनकर्ता या वाचक की उपस्थिति भी गौण पड़ जाती है। नतिजतन जो चीज सामने होती है वह नाटकीय दृश्य के करीब की चीज होती है। इसके विपरीत स्थिति-विपर्यय के प्रश्नाकूल उपस्थापन द्वारा प्रक्रिया पर जब आत्मत्व नियंत्रण कायम कर लेते हैं तो वह गीति के करीब की चीज बन जाती है क्योंकि नाटकीय दृश्य उसे गीति बनने से रोकते है। रचना के ये दोनों क्षण एक दूसरे में अंतर्प्रवेश करके इसे गीति-नाट्य बनाते है। काव्य-प्रक्रिया के भीतर का यह गीति-नाट्य एक तरह से गीति-नाट्य का आभास ही है, किंतु इसकी containing capacity सामान्य गीति से बेहतर और भिन्न है। बेहतर इसलिए कि गीतियों को कार्यानुकरण से जोड़कर यह आभास उसकी धारक क्षमता को गुणात्मक तौर से बढ़ा देता है। बहरहाल इस बढ़ी हुई क्षमता के बावजूद पहले खंड के प्रकृति चित्र न तो प्रेमी-प्रेमिका विच्छेद का रूपक बनने की क्षमता रखते हैं, न ही अनुभव-प्रत्यक्ष के साथ बंधे हैं। जाहिर है इसके प्री-पोजिशन में ही प्रकृति चेतना संपन्न है और इसलिए कार्य-व्यापार के साथ वर्णित है। यह सपोजिशन रविन्द्र प्रभाव के चलते एक काव्य-रूढ़ का रूप ले चुका है जो हिंदी कविता में कवि के जाने-अनजाने आपना दाखिला ले लेता है। ऐसे कवियों की प्रक्रिया में भी जिनका इसकी वैचारिकी से कुछ भी लेना-देना नहीं है बल्कि जो दार्शनिक यथार्थवादी हैं। ऐसे कवियों में दिनकर का नाम भी शामिल है। खंड दो और तीन में दिनकर वापिस अपनी जमीन पर काबिज हैं। छायावाद रहस्यवाद के क्रिटिकल कवि यहाँ सामाजिक यथार्थ के रूबरू है- हालांकि अनुभव-प्रत्यक्ष में एक मानवेतर संदर्भ ही जगमगाता है- प्रकृति, तोते की जोड़ी, खोंता, शुकी का अंडा सेना, शुक का खोते पर छाया देना जैसे चरित, उपकरण और खासकर क्रियाएं पूरे संदर्भ को एक मानवीय संदर्भ में अंतरित करने लग जाते हैं- 'बैठा शुक उस घनी डाल पर/ जो खोंते पर छाया देती, /पंख फुला नीचे खोंते में / शुकी बैठ अंडे है सेती'(रसवन्ती, पृ. सं. 15)5- इसके बाद सोद्देश्य लेखन का एक ऐसा अवतरण खुलता है- ऐसी निरलंकृति, दीप्ति और घुलावट के साथ- दाम्पत्य जीवन के आद्य युगम स्वरूप को उकेरते हुए कि ऐसी इमेजरी आधुनिक हिंदी कविता में दुर्लभ है-

'गाता शुक जब किरण बसंती/ छूती अंग पर्ण से छनकर

किन्तु, शुकी के गीत उमड़कर/ रह जाते सनेह में सनकर'

गूँज रहा शुक का स्वर वन में/ फूला मग्न शुकी का पर है

गीत, अगीत कौन सुन्दर है?6 उपर्युक्त पृ. सं. 16

गोया कि 'किरण बसन्ती' कोई राग हो जिसे शुक गाहे-बगाहे गाता है और जब गाता है तब यों गाता है कि राग पत्ते से छनकर और भी स्पर्शक्षम बने। वह बनता भी है क्योंकि आखिरकार उसे प्राणप्रिया के अंग को छुना है। यहां रविठाकुर एक बार फिर से जी उठे हैं। शुक शुकी को लेकर जब इतना संवेदनशील और क्रिया-सचेत है तो शुकी भी है, किंतु उसके गीत स्नेह में सनकर ही रह जाते है। शायद उसका स्नेह ज्यादा सान्द्र है- कि वह अंडे सेते हुए सम से भी नीचे गाने को बाध्य है- कि वह लजालु है- कि वह भविष्य के सपने में खोई-खोई फूली नहीं समा रही है। ध्यातव्य है, शुक भी उस घनी डाली पर बैठा है जो खोते पर छाया डाल रही है। कहना न होगा शुक का यों बैठना

उस छाया का गहराना भी है। यह भी रविठाकुर के करीब की कला है जिसे दिनकर ने हिंदी की ध्वनि-प्रकृति और लोकगीत की भाषिक सादगी को पकड़कर अपने लिए विकसित किया है। ये पंक्तियाँ रची हुई हैं, किंतु नैसर्गिक होने का भ्रम पैदा करती हैं। शुक-शुकी प्रसंग को लेकर चली है, किंतु मनुष्य के युग्म परिवार की आदम गंध में सनी है। इमेजरी बढ़ती जाती है और पाठक यथार्थ और स्वप्न की दुनिया में भीगता रहता है ऐसी जादुई फुहारों के नीचे कि आप छूट नहीं सकते। वह एक ऐसी कसावट है कि तब वही है- इसे ही 'दरिया में फना हो जाना' कहते हैं। किंतु एक दूसरे स्तर इमेजरी बढ़ती है और बढ़ी हुई इमेजरी के साथ पाठक खुद को एक प्रीतिकर अहसास के साथ-साथ एक फीकी उदासी से भी घिरा हुआ महसूस करता है। एक साथ समूह और व्यक्ति के बतौर स्मृति और यथार्थ तथा यथार्थ और सपने को जीना वस्तुतः कई युगों और जन्मों को जीने के तुल्य है- कह लें कि एक अर्थ में मृत्यु के अस्तित्व को ही नकारने के तुल्य। वह भी इतनी सादगी और भोलेपन के साथ कि आखिरी प्रश्न बेमानी सा हो जाता है। बहुत ही हल्का और छिछला भी। इसलिए भी कि वहाँ तक पहुंचने की तब जरूरत ही कहाँ रह जाती है। इससे पहले ही आदमी की जान किसी भंवर में पड़ जाती है- 'फूला मग्न शुकी का पर है' जैसे भंवर यहाँ कई है। एक से छूटो तो दूसरा हाजिर है। ऐसे भंवर 'गीत' भी बनाते हैं और 'अगीत' भी। को बड़-छोट कहत अपराध। एक सादी सी दुनिया में इतना चुंबकत्व- इतना engagement भर देना किसी युगांतर के अग्रदूत कवि के बूते की चीज ही हो सकती है। अब देखिए कि यह आकर्षण, सम्मोहन और आबद्धता अचानक एक मध्यांतर के हत्थे चढ़ जाती हैं। एक प्रश्नाकूल मध्यांतर के। यह क्या है?- एक सौकिंग ट्रीटमेंट। कि संभलने का प्रदत्त क्षण। कि पिछले अनुभव के पार्श्व संगीत के साथ और सहारे आदमी की अपनी जिंदगी के यथार्थ नक्शे तक पहुंचने का सबब-

'दो प्रेमी हैं यहाँ, एक जब/ बड़े सांझ आल्हा गाता है,

पहला स्वर उसकी राधा को/ घर से यहाँ खींच लाता है

चोरी-चोरी खड़ी नीम की/ छाया में छिपकर सुनती है

'हुई न क्यों मैं कड़ी गीत की/ बिधना?' यों मन में गुनती है? उपर्युक्त

यहाँ 'दो प्रेमी हैं'। उनका प्रेम आल्हा गायन के सहारे परवान चढ़ता है। 'आल्ह खंड' में भी प्रेम है, विवाह है, विवाह के लिए युद्ध लड़ा गया है। किंतु कुल मिलाकर वह वीर काव्य है, प्रेमाख्यान नहीं। प्रेमाख्यान का नायक कोई भी हो सकता है- अभिजन से लेकर ढोला या सदावृक्ष जैसा साधारण जन तक। किंतु वीर काव्य का नायक ज्यादातर मामले कोई अभिजन रहा है। न भी रहा है तो वीरता उसे अभिजन बना गयी है। यहां 'राधा' अपने 'श्याम' से चोरी-चोरी मिलती है। छिपकर उसका गायन सुनती है। सामाजिक विधि-निषेध उसे रोकते हैं- यह सुपरिगठन के स्तर पर सामंतवाद की मजबूत स्थिति का परिचायक है। सामंतवाद अभी उत्पादन संबंध से लेकर सामाजिक संरचना तक काबिज़ है। आधुनिक शिक्षा, सामाजिक-सांस्कृतिक संगठन और अभियान, पत्र-पत्रिकाएं तथा साहित्य-कला इन संबंधों खरोंच भर दे रहे हैं। फिर भी एक वातावरण तो बना ही है जिसमें प्रेम को एक वैकल्पिक वैधता भी मिली है। impulses पर भी बहस छेड़ी गई है। आधुनिक मनोविज्ञान और नृतत्वशास्त्र ने भी इसके लिए जुटाये हैं। सो कई श्रोतों से संबल लेकर प्रेम की आधुनिक हवा गांवों तक भी पहुँची है, भले ही विरल रूप में। और जब पहुँची है तो सामंती परिस्थिति में पुरुष के पास मुखर है, भले ही आल्हा गायन के माध्यम से, किंतु स्त्री के लिए अभी वह जी का जंजाल है। और भय का कारण भी। इस तरह चाहे स्त्री पक्ष हो या पुरुष पक्ष प्रेम एक मुश्किल कार्य-व्यापार है। इसलिए संवाद इतना कठिन है कि वह सांकेतिक हो उठा है। जैसे आल्हा गायन की जगह 'राधा' का आना, नीम तले

छिपकर खड़ा होना और आत्मलीन होना ('बिधना यों मन में गुनती है')- सब के सब प्रेम-संकेत बन गए हैं। ऐसे में आल्हा गायन के बीच किसी प्रसंग, पंक्ति या पद पर जोर देना भी संकेत बन जाता है। संकेतों के आदान-प्रदान के बीच राधा मन ही मन बिधना गुनती है कि काश! वह आल्हा की कोई कड़ी ही होती। इस कामना के पीछे समाज की अनपहचानी ताकतें हैं और सामने 'आग का दरिया'। निराला जब गाते हैं- 'तुम्हीं गाती हो अपना गान/ व्यर्थ पाता हूँ मैं सम्मान'⁸ तो इसके पीछे एक घिसे-पिटे दर्शन के माध्यम से उनका वृद्धिविलास बोलता है। इसी तरह बच्चन की यह अभ्यर्थना कि 'तुम गादो, मेरा गान अमर हो जाए' दान-मान-प्रण को बतौर जुबानी जमाखर्च लुटाना है। बिहार के एक कवि हो गए हैं जानकीवल्लभ शास्त्री। अपने एक गीत में ये महाशय तार सप्तक में गाने की खातिर बेचैन हैं। क्यों। अपनी भलमनसाहत के चलते। अपने गायन से ये चाहते हैं- 'ढीले सम्बन्धों को आपस में कस दूं/ सूखे तर्कों को मैं श्रद्धा का रस दूं।'⁹ इसके अलावा भी देने के लिए इनके पास भरा-पुरा कोष है। वह भी लेखन के माध्यम से। मगर आत्म विश्वास के जरा ढीले हैं, इस कारण सशंकित रहते हैं - 'रेत पर जो लिख रहा मैं धार उसको मेट देग'¹⁰। आगे लिखते हैं- 'दर्द सह चुप लिख रहा मैं/ गर्द में क्या दिख रहा मैं'- यानी कि दर्द मिटने और गर्द में मिलने का नहीं- लिखे हुए दर्द के दिखने-न-दिखने का है। वह दिखे भी कैसे- देखने वाले गर्द जो ठहरे। किंतु एक अवलंब तब भी बच रहता है। खाक में यों मिलने की कसक 'गान बन तेरे प्राण में लुक-छिप रहेगी'। अब तो शांति मिल जानी चाहिए। किंतु नहीं, 'प्राण' जाएं भाड़ में - अब चिंता यह हो आती है कि तब तक तो मैं ही नहीं रह पाऊंगा। सवाल है जीते जी गान पर प्राण में लुकने- छिपने की खातिर कफर्यू लगा है क्या। सचाई है कि यह कवि सिर्फ अपने 'मैं' या 'गान' को सक्रिय मानकर चला है। उसके लिए प्राण खेल का साथी नहीं, सिर्फ मैदान है यानी कि माध्यम। यह अहंवाद की पराकाष्ठा है। इस अहं के लिए स्त्री हो या प्रकृति सब के सब आत्म-प्रकाशन के टूल हैं। इसीलिए जब यह जोश में आता है तो ढीले संबंधों को हवा में ही कसने लगता है। या प्राण-वान को देखते-देखते eliminate कर निकल लेता है। 'प्राण के लिए ऐसी नृशंस संवेदना हिंदी काव्य में अन्यत्र दुर्लभ है। जबकि 'गीत-अगीत' के तीसरे खंड में स्त्री-पुरुष का रागात्मक अनुबंध जीवन की पूरी कसावट के साथ- सामंती समाज-संस्कृति के बीच के जीवन संघर्ष के एक तेजोमय हिस्से के बतौर अपना आकार ग्रहण करता है। यहाँ प्रस्तुतीकरण को कवि ने इस तौर से साधा है कि स्त्री अपने 'मैं' के साथ सक्रिय हो उठी है। यानी गीति-नाट्य का आभास क्षण भर की खातिर वास्तविक रूप को भी पकड़ लेती है। यह एक शिफ्ट है जो आधारभूत धरातल को एक पीली-गुलाबी रोशनी से नहा देता है। इसके आल्हा के भीतर की स्व-पक्षीय रणनीति भी बदलती है। और यह प्रश्न कि 'गीत-अगीत' कौन सुंदर है और भी जटिल हो जाता है। यह जटिलता कहीं न कहीं जीवन संघर्ष के और भी कठिन होने की सूचना है। द्वितीय खंड की निराधार उदासी की जमीन यह है। अनुमान से सपने तक पलती हुई जमीन।

प्रमुख संदर्भ सूची

- 1 संचयिता, दिनकर, भारतीय ज्ञानपीठ, आठवां संस्करण 2003 पृ. सं. 15
- 2 रेणुका, दिनकर, लोकभारती प्रकाशन, 2009 संस्करण पृ. सं. 83-84
- 3 हुंकार, दिनकर, लोकभारती प्रकाशन, 2002 संस्करण पृ. सं. 18
- 4 उपर्युक्त पृ. सं. 65
- 5 रसवंती, दिनकर, उदयाचल, ग्यारहवां संस्करण 1987 पृ. सं. 15

6 उपर्युक्त पृ. सं. 16

7 उपर्युक्त

8 गीतिका, निराला, भारती भंडार, आठवां संस्करण सं. 2030 वि. पृ. सं. 49

9 उत्तम पुरुष, जानकी बल्लभ शास्त्री, अभिधा प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2001 पृ. सं. 62

10 उपर्युक्त पृ. सं. 63